जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या

- प्रो. सागरमल जैन

किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करने या उसे पारिभाषित करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। क्योंकि शब्दों के वाच्यार्थ बदलते रहते हैं। साथ ही उनमें अर्थ संकोच और अर्थ विस्तार भी होता है। यह कठिनाई तब और अधिक समस्याप्रद बन जाती है, जब एक ही परम्परा में कालक्रम में शब्द का अर्थ बदल जाता है। कुछ शब्द कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को खोजकर नये अर्थ को ग्रहण करते हैं तो कुछ शब्द एक परम्परा से आकर दूसरी परम्परा में मूल अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ में रूढ़ हो जाता है। आसव शब्द जैन और बौद्ध परम्परा में समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उसके अर्थ भिन्न हो गये हैं। जैन और बौद्ध परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्दों के साथ यही स्थिति रही है। कुछ शब्द अन्य परम्परा से जैन परम्परा में आये, किन्तु यहाँ आकर उनका अर्थ बदल गया। पुनः कुछ शब्द जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी कालक्रम में अपने पुराने अर्थ को छोड़कर नये-नये अर्थ को ग्रहण करते रहे हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन्हीं दो कठिनाइयों के सन्दर्भ में जैन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द के अर्थ-निर्धारण की समस्या से जैनाचार्य प्राचीन काल से ही परिचित थे, अतः उन्होंने सर्वप्रथम निक्षेप और नय के सिद्धान्तों के सिद्धान्तों का विकास किया, ताकि सन्दर्भ और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण किया जा सके। शब्द के अर्थ निर्धारण में उसके सन्दर्भ का विचार करना यह निक्षेप का कार्य है और वक्ता के अभिप्राय के आधार पर वाक्य का अर्थ समझना यह नय का कार्य माना गया। निक्षेप शब्द के अर्थ का निश्चय करता है और नय वाक्य के अर्थ का निश्चय करता है।

शब्दों के अर्थ-निर्धारण एव उनको पारिभाषित करने में एक समस्या यह भी होती है कि ग्रन्थ किसी अन्य देश एवं काल की रचना होता है और उसके व्याख्याकार या टीकाकार किसी अन्य देश और काल के व्यक्ति होते हैं, इसलिए कभी-कभी उनके द्वारा की गई शब्द की परिभाषाएँ अपने मूल अर्थ से भिन्न होती हैं और कभी-कभी भ्रांत भी। जैन परम्परा में कई शब्दों के टीकाकारों के द्वारा किये गये अर्थ अपने मूल अर्थ से भिन्न हैं और कभी-कभी तो ग्रन्थ के हार्द को भी समझने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यह समस्या भी विशेष रूप से उन ग्रन्थों के सन्दर्भ में है जो पर्याप्त प्राचीन है। ऐसे ग्रन्थों में हम आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और कुछ छेदसूत्रों को ले सकते हैं। यहाँ हम इनके सभी शब्दों के सन्दर्भ में तो विचार नहीं कर सकेंगे, किन्तु कुछ प्रतिनिधि पारिभाषिक शब्दों को लेकर उनके अर्थ-निर्धारण की समस्या पर विचार करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वप्रथम हम अरिहंत या अरहन्त शब्द को ही लें। प्राचीनकाल में यह शब्द जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द न होकर भारतीय परम्परा का एक सामान्य शब्द था। अपने मूल अर्थ में यह शब्द पूजा-योग्य अर्थात् पूजनीय या "सम्मान्नीय" अर्थ का वाचक था और उसके बाद यह शब्द वासनाओं से मुक्त एवं राग-द्वेष के विजेता वितराग व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि वह सम्माननीय या पूज्यनीय होता था। प्राचीन जैन एवं बौद्धग्रन्थों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किन्तु जब जैन परम्परा में कर्म-सिद्धान्त का विकास हुआ तो इस शब्द को पुनः एक नया अर्थ मिला और यह कहा गया कि जो व्यक्ति चारघाती कर्मों को अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय को क्षय कर लेता है, वह "अर्हत्" है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय करने के कारण "अरहन्त" को सर्वज्ञ का पर्यायवाची माना गया। इस प्रकार "अरहन्त" शब्द ने जैन परम्परा में एक अपना विशेष अर्थ प्राप्त किया। कालान्तर में अरिहन्त के (अरि+हंत) रूप से यह राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को मारने वाला और अरुहंत के रूप में जो संसार में पुनः जन्म नहीं लेने वाला माना गया, यह व्याख्या जैन और बौद्ध दोनों में है। अतः आगे चलकर यह अर्थ भी स्थिर नहीं रह सका और जैन परम्परा में अरहन्त शब्द केवल तीर्थंकरों का पर्यायवाची बन गया। यदि हम "सव्वणु" (सर्वज्ञ) और केवली शब्द का इतिहास देखें तो इनके भी अर्थ में कालान्तर में विकास देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन आगमों जैसे -- सूत्रकृतांग, भगवती आदि में सर्वज्ञ शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं था जो उसे बाद में मिला। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य-साहित्य में तथा अन्य ग्रन्थों में "सर्वज्ञ" और "केवली" शब्द सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान के वाचक माने गये हैं, किन्तु सूत्रकृतांग एवं भगवती में सर्वज्ञ और केवली शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वहाँ "सर्वज्ञ" शब्द का अर्थ आत्मज्ञ, आत्मद्रष्टा, आत्मसाक्षी और अधिक से अधिक जीवन और जगत् के सम्यक् स्वरूप का ज्ञाता ही था, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी प्रारम्भ में सर्वज्ञ का तात्पर्य हेय और उपादेय का विवेक था। दूसरे शब्दों में उस काल तक सर्वज्ञ शब्द आत्मज्ञान एवं दार्शनिक ज्ञान का ही पर्यायवाची था, अन्यथा भगवती में केवली "सिय जाणइ सिय ण जाणइ" ऐसा उल्लेख नहीं होता। इस सम्बन्ध में पंडित सुखलालजी ने पर्याप्त विचार किया है। सर्वज्ञ का पर्यायवाची "केवली" शब्द भी अपने प्राचीन अर्थ को खोकर नवीन अर्थ में सर्वज्ञाताद्रष्टा अर्थात् सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों के त्रैकालिक ज्ञान का वाचक बन गया, यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि केवली शब्द प्राचीन सांख्य परम्परा से जैन परम्परा में आया और वहाँ वह आत्मद्रष्टा के अर्थ में या प्रकृति-पुरुष के विवेक का ही वाचक था। यही कारण था कि कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा, कि वस्तुतः केवली आत्मा को जानता है, वह लोकालोक को जानता है यह व्यवहार नय या व्यवहार दृष्टि है। पाली त्रिपिटक में सर्वज्ञ का जो मखौल उड़ाया गया है, वह उसके दूसरे अर्थ को लेकर है। यही स्थिति "बुद्ध", "जिन" और "वीर" शब्दों की है। एक समय तक ये जैन, बौद्ध एवं अन्य श्रमण परम्पराओं के सामान्य शब्द थे। प्रारम्भ में इनका अर्थ क्रमशः इन्द्रियविजेता, प्रज्ञावान और कष्टसहिष्णुसाधक था किन्तु आगे चलकर जहाँ जैन परम्परा में "जिन" शब्द और बौद्ध परम्परा में "बुद्ध" शब्द विशिष्ट अर्थ के वाचक बन गये, जैन परम्परा में "जिन" शब्द को मात्र तीर्थंकर का पर्यायवाची और बौद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा में बुद्ध को धर्मचक्र प्रवर्त्तक बुद्ध का वाचक माना गया। "वीर" शब्द जहाँ आचारांग में कष्ट-सहिष्णु साधक या संयमी मुनि का पर्यायवाची था, वहीं आगे चलकर महावीर का पर्यायवाची मान लिया गया। यही स्थिति "तथागत" शब्द की है। आचारांग में "तथागत" शब्द मुख्य रूप से प्रज्ञावान मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा से यह शब्द लुप्त हो गया और बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया और वहाँ उसे भगवान बुद्ध का पर्यायवाची मान लिया गया।

इसी प्रकार यदि "दंसण" (दर्शन) शब्द को लें तो उसके अर्थ में भी स्वयं जैन परम्परा में ही अर्थ परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन जैनागम आचारांग में यह शब्द द्रष्टाभाव या साक्षीभाव के अर्थ में "प्रयुक्त" हुआ, जबकि जैन-ज्ञान मीमांसा में यह शब्द ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदनों के रूप में प्रयोग किया गया। आगमों में "जाणई" और "पासई" ऐसे दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहाँ "पास" या "पासइ" शब्द का अर्थ देखना था और वह दंसण का पर्यायवाची था। प्राचीनस्तर के ग्रन्थों में दर्शन या देखने का तात्पर्य जागतिक घटनाओं को समभावपूर्वक देखने से रहा जैसे "एस पासगस्स दंसणं, एस कुसलस्स दंसण" किन्तु आगे चलकर यह शब्द जब जिण-दंसण आदि विशेषणों के साथ प्रयुक्त हुआ तो वह "दर्शन" (फिलासोफी) का पर्यायवाची बन गया और उस अर्थ में उसे दृष्टि कहा गया और उसी से सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि शब्द निष्पन्न हुए। पुनः आगे चलकर जैनागमों में ही यह दंसण शब्द श्रद्धान का पर्यायवाची हो गया। आचारांग में "दंसण" शब्द साक्षीभाव के अर्थ में एवं सूत्रकृतांग में दर्शन (फिलासफी) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। किन्तु उत्तराध्ययन में "णाणेन जाणई भावे दंसणेण सद्दहे" कहकर दर्शन को श्रद्धान का पर्यायवाची बना दिया गया। जैनकर्म सिद्धान्त में ही दर्शन-मोह और दर्शनावरण इन दोनों शब्दों में प्रयुक्त दर्शन शब्द दो भिन्न अर्थों का वाचक बन गया है। "दर्शनावरण" में रहे हुए "दर्शन" शब्द का तात्पर्य जहाँ ऐन्द्रिक और मानसिक संवेदन है वहाँ "दर्शन मोह" में "दर्शन" शब्द का अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोण या दर्शन (फिलासफी) है। सम्प्रदाय भेद से भी जैन परम्परा में शब्दों के अर्थ में भिन्नता आयी है। उदाहरण के रूप में "अचेल" शब्द का अर्थ जहाँ श्वेताम्बरों में अल्प-चेल किया तो दिगम्बरों में वस्त्र का अभाव ऐसा किया है।

इसी प्रकार "पुद्गल" शब्द को लें। "पुद्गल" शब्द भगवतीसूत्र में व्यक्ति (इण्डीविजूअल) अथवा व्यक्ति के शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसके साथ ही साथ उसी ग्रन्थ में "पुद्गल" शब्द भौतिक-पदार्थ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। पुद्गलास्तिकाय में प्रयुक्त पुद्गल शब्द जहाँ भौतिक द्रव्य (मैटर) का सूचक है, वहीं भगवती में यह शब्द व्यक्ति एवं शरीर का तथा दशवैकालिक में "मांस" का वाचक रहा है। आज जैनसाधुओं की भाषा (कोड-लैंग्वेज) में यह शब्द "धन" या "मुद्रा" का पर्यायवाची है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल का अर्थ व्यक्ति/शरीर हुआ है। "आत्मा" शब्द जिसके लिए प्राकृत भाषा में "आता", "अत्ता", "अप्पा", "आदा" और "आया" रूप में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह शब्द भी मात्र आत्मा का वाचक नहीं रहा है। भगवतीसूत्र में यह अपनेपन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और कभी यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"स्वधर्म" या "स्वगुणों" का भी प्रतीक माना गया है। भगवतीसूत्र में जब यह पूछा गया कि क्या प्रथम पृथ्वी आत्मा है ? तो वहाँ इसका अर्थ स्वधर्म, स्वगुण है। इसी प्रकार जैन आगमों में "अप्पाणंवेवासरामि" में "अप्पा" शब्द अपनेपन का सूचक है। बौद्ध परम्परा में "अनत्त" (आत्मा) शब्द का प्रयोग "अपना नहीं" इसी अर्थ में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्ध परम्परा में भी "अनत्त" (अनात्म) शब्द का प्रयोग अपना नहीं है इसी में हुआ है। इस प्रकार प्राचीन जहाँ बौद्धग्रन्थों के "अत्त" शब्द अपनेपन या मेरेपन का वाचक ही रहा है। वहीं जैन परम्परा में यह चेतना सत्ता का वाचक माना गया। जैन परम्परा में सामान्यतया जीव और आत्मा पर्यायवाची रहें, किन्तु वेदान्त में उन्हें पृथक्-पृथक् अर्थ का वाचक माना गया। उपनिषदों में "आत्मन्" शब्द "ब्रह्म" या परम् सत्ता का वाचक भी रहा है।

इसी प्रकार "धर्म" शब्द को ही लें, उसे जैन परम्परा में अनेक प्रकार से पारिभाषित किया गया। जहाँ "वत्थुसहावोधम्मो" में धर्म को वस्तु का स्वरूप या स्वभाव कहा गया वहीं "सेमियाए आरिए धम्मे पव्वइए" में "धर्म" शब्द समभाव का सूचक माना गया, किन्तु यही शब्द जब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में प्रयुक्त हुआ तो वहाँ इसका अर्थ बिलकुल ही बदल गया और वह गति-सहायक द्रव्य के रूप में व्याख्यायित किया गया। ये तो हमने कुछ शब्दों के उदाहरण दिये किन्तु ऐसे अन्य कई शब्द हैं जो कालक्रम में अपना नया-नया अर्थ ग्रहण करते गए और एक ही परम्परा में कालक्रम में वे भिन्न-भिन्न अर्थों में रूढ़ होते चले गये। जैनागमों में कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो अन्य परम्पराओं से उनके मूल अर्थ में ही ग्रहीत हुए थे किन्तु बाद में उनका मूल अर्थ टीकाकारों के समक्ष नहीं रहा और उन्हें भिन्न अर्थ में ही व्याख्यायित किया गया। उदाहरण के रूप में "आचारांग" में प्रयुक्त "विपास्सी" और विपस्सना" शब्द बौद्ध परम्परा के ज्ञान के अभाव में टीकाकारों के द्वारा अन्य अर्थ में पारिभाषित किये गये। कुछ शब्दों का अर्थ तो इसलिए दुर्बोध हो गया कि जिस क्षेत्र का वह शब्द था उस क्षेत्र के सम्बन्ध में टीकाकारों के अज्ञान के कारण वह अन्य अर्थ में ही पारिभाषित किया गया, उदाहरण के रूप में "तालपलम्ब" (ताड़प्रलम्ब) शब्द जो निशीथ में प्रयुक्त हुआ है वह अपने मूल अर्थ में अंकुरित ताड़बीज का सूचक था किन्तु जब जैन मुनिसंघ राजस्थान और गुजरात जैसे क्षेत्र में चला गया तो वह उसके अर्थ से अनभिज्ञ हो गया और आज जैन परम्परा में तालपलम्ब केले (कदलीफल) का वाचक हो गया है। इस प्रकार जैनागमों में प्रयुक्त अनेक शब्द टीकाकारों के काल तक भी अपना अर्थ खो चुके थे और टीकाकारों ने उन्हें अपने ढंग से और अपनी परम्परा के अनुसार पारिभाषित करने का प्रयास किया। वसतुतः जो ग्रन्थ जिस-जिस देश और काल में निर्मित होता है उसके शब्दों के अर्थों को उस देश और काल की परम्परा और अन्य ग्रन्थों के आधार पर पारिभाषित किया जाना चाहिए। उस देशकाल के ज्ञान के अभाव में अनेक शब्दों को टीकाकारों ने अपनी कल्पना के अनुसार पारिभाषित कर दिया है। उससे बचना आवश्यक है। आचारांग में "संधि" शब्द आसक्ति या रागात्मकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था किन्तु टीकाकार भी अनेक स्थलों पर उसे अवसर के रूप में पारिभाषित करते हैं। "आसव" शब्द जैन और बौद्ध परम्पराओं में किन-किन अर्थों से गुजरा है, इसकी चर्चा "एलेक्सवेमेन" ने की है। मोक्ख (मोक्ष) और "निव्वाण" (निर्वाण) शब्द सामान्यतया जैन परम्परा में पर्यायवाची रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु उत्तराध्ययन में ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न स्थितियों के वाचक हैं। यहाँ कहा गया कि अमुक्त का निर्वाण नहीं (अमोक्खस्स नत्थि निव्वाणं)।

इसलिए प्राचीन प्राकृत और पालि साहित्य के अनुवाद और उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का निर्धारण एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य है जो विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है, जो शब्द किसी काल में पर्यायवाची रूप में या भाषा सौष्ठव के लिए प्रयुक्त होते थे, व्युत्पत्ति और प्रतिभा के आधार पर उन्हें भिन्न-भिन्न अर्थ का वाचक बना दिया है। पालिसाहित्य में निगण्ठ-नाटपुत्त के सन्दर्भ में "सव्ववारिवारितो" शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुवादकों ने "वारि" का अर्थ जल किया, जबकि सूत्रकृतांग के वीरस्तुति नामक अध्ययन के आधार पर देखें तो उसमें प्रयुक्त वारि शब्द का अर्थ जल न होकर पाप होगा क्योंकि सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है -- "से वारिया सव्व वारं इत्थीसरायभत्तं" अर्थात् उन्होंने लोगों को सभी पाप कर्मों, स्त्री और रात्रिभोजन से निवृत्त किया।

यहाँ मैं इस बात पर विशेष रूप से बल देना चाहूँगा कि जहाँ जैन आगमों के पारिभाषित शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिए बौद्ध पिटक का अध्ययन आवश्यक है वहीं बौद्ध पिटक साहित्य के शब्दों के अर्थ निर्धारण के लिए जैन आगमों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि ये दोनों परम्पराएँ एक ही देश और काल की उपज हैं। बिना बौद्ध साहित्य के अध्ययन के आचारांग जैसे प्राचीनस्तर के ग्रन्थ में प्रयुक्त "विपस्सि, तथागत, पडिसंखा, आयतन, संधि आदि शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकते उसी प्रकार पिटक साहित्य में प्रयुक्त "वारि" जैसे अनेक शब्दों का अर्थ बिना जैन आगमों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं हो सकता। हमें यह स्मरण रखना होगा कि कोई भी परम्परा शून्य में उत्पन्न नहीं होती उसका एक देश और काल होता है जहाँ से वह अपनी शब्दावली ग्रहण करती है। यह ठीक है कि अनेक बार उस शब्दावली को नया अर्थ दिया जाता है फिर भी शब्द के मूल अर्थ को पकड़ने के लिए हमें उसे देश, काल व परम्परा का ज्ञान भी प्राप्त करना होगा, जिसमें उसका साहित्य निर्मित हुआ है। अतः पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया में न तो उस देश व काल की उपेक्षा की जा सकती है, जिसमें उन शब्दों ने अपना अर्थ प्राप्त किया है और न समकालीन परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के बिना ही अर्थ-निर्धारण की प्रक्रिया को सम्पन्न किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org